INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SOCIOLOGY & HUMANITIES



ISSN 2277 – 9809 (online)
ISSN 2348 - 9359 (Print)

An Internationally Indexed Peer Reviewed & Refereed Journal

www.IRJMSH.com
www.isarasolutions.com

Published by iSaRa Solutions

भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एवं न्यायिक सक्रियता का राजनीतिक विश्लेषण

डॉ. बृजेश स्वरुप सोनकर

असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग

कर्म क्षेत्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इटावा (उ.प्र.)

शोध सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक एवं राजनीतिक भूमिका तथा न्यायिक सक्रियता के प्रभावों का विश्लेषण करना है। अध्ययन में न्यायिक पुनरावलोकन, जनहित याचिका, मौलिक अधिकारों के संरक्षण और शक्तियों के पृथक्करण जैसे प्रमुख पक्षों का विवेचन किया जाएगा। साथ ही, न्यायपालिका, विधायिका एवं कार्यपालिका के पारस्परिक संबंधों तथा लोकतांत्रिक जवाबदेही पर न्यायिक हस्तक्षेप के प्रभावों का परीक्षण किया जाएगा। यह अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रकृति का है, जिसमें भारतीय संविधान, सर्वोच्च न्यायालय के प्रमुख निर्णयों, पुस्तकों, शोध पत्रों और आधिकारिक दस्तावेजों को प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों के रूप में उपयोग किया जाएगा। शोध का केंद्रीय तर्क यह है कि न्यायिक सक्रियता संवैधानिक मूल्यों और नागरिक अधिकारों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है, किंतु इसकी प्रभावशीलता के लिए न्यायिक स्वतंत्रता, संस्थागत जवाबदेही तथा शक्तियों के संवैधानिक संतुलन के बीच समन्वय आवश्यक है।

मुख्य शब्द: भारतीय लोकतंत्र, सर्वोच्च न्यायालय, न्यायिक सक्रियता, न्यायिक पुनरावलोकन, जनहित याचिका, संवैधानिक शासन, राजनीतिक जवाबदेही।

प्रस्तावना

भारतीय लोकतंत्र विश्व के सबसे बड़े संवैधानिक लोकतंत्रों में से एक है, जिसमें शक्तियों के पृथक्करण (Separation of Powers) का सिद्धांत संविधान के मूल ढाँचे का अभिन्न अंग है। इस व्यवस्था में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों अंग एक-दूसरे के पूरक होते हुए भी स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं। इनमें से न्यायपालिका, विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय, न केवल संविधान का संरक्षक है, बल्कि मौलिक अधिकारों का प्रहरी तथा लोकतांत्रिक मूल्यों का अंतिम रक्षक भी है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका को इतना शक्तिशाली एवं स्वतंत्र स्थान प्रदान किया कि वह अन्य दो अंगों के अतिरेक पर अंकुश लगा सके। यह शोध-पत्र ऐतिहासिक घटनाक्रम एवं संवैधानिक प्रावधानों के आधार पर भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एवं न्यायिक सक्रियता का राजनीतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना भारतीय संविधान के लागू होने के साथ ही हुई। संविधान के अनुच्छेद 124 के अंतर्गत 26 जनवरी 1950 को भारत के सर्वोच्च न्यायालय का अस्तित्व में आना सुनिश्चित किया गया। इसका औपचारिक उद्घाटन

28 जनवरी 1950 को पुराने संसद भवन के प्रिंसेस चैंबर में हुआ, जहाँ पूर्व में फेडरल कोर्ट ऑफ इंडिया (1937–1950) कार्यरत था। प्रथम मुख्य न्यायाधीश हरिलाल जे. कानिया के नेतृत्व में न्यायालय ने कार्य आरंभ किया। प्रारंभ में इसमें एक मुख्य न्यायाधीश एवं सात अन्य न्यायाधीश थे, परंतु बढ़ते कार्यभार के कारण संसद ने न्यायाधीशों की संख्या समय-समय पर बढ़ाई। संविधान के भाग V, अध्याय IV (अनुच्छेद 124 से 147) में इसकी संरचना, अधिकारिता, शक्तियाँ एवं प्रक्रिया का विस्तृत प्रावधान किया गया है। न्यायालय को मूल (Original), अपीलीय (Appellate) एवं सलाहकारी (Advisory) अधिकारिता प्रदान की गई है। अनुच्छेद 32 के अंतर्गत मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन हेतु रिट याचिकाओं की शक्ति, अनुच्छेद 131 के अंतर्गत संघ-राज्य विवादों की मूल अधिकारिता, अनुच्छेद 136 के अंतर्गत विशेष अनुमति याचिका (Special Leave Petition) तथा अनुच्छेद 143 के अंतर्गत राष्ट्रपति को सलाह देने की शक्ति इसकी संवैधानिक स्थिति को असाधारण बनाती है। अनुच्छेद 141 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि समस्त न्यायालयों पर बाध्यकारी है।

भारतीय लोकतंत्र में न्यायपालिका का राजनीतिक महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि वह संविधान की मूल संरचना (Basic Structure) की रक्षा करती है। केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) के ऐतिहासिक निर्णय में न्यायालय ने यह प्रतिपादित किया कि संसद संविधान के मूल ढाँचे में परिवर्तन नहीं कर सकती। यह सिद्धांत भारतीय लोकतंत्र की राजनीतिक स्थिरता का आधार स्तंभ सिद्ध हुआ। आपातकाल (1975–77) के दौरान ए.डी.एम. जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला (1976) प्रकरण में न्यायालय की निष्क्रियता की आलोचना हुई, परंतु आपातकाल के पश्चात् न्यायालय ने अपनी छवि पुनर्स्थापित की। मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) में अनुच्छेद 21 की व्यापक व्याख्या कर "उचित, न्यायसंगत एवं युक्तियुक्त प्रक्रिया" का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया, जिससे मौलिक अधिकारों का विस्तार हुआ।

न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism) की अवधारणा भारत में 1970 के दशक के उत्तरार्ध से विकसित हुई। यह वह प्रक्रिया है जिसमें न्यायालय पारंपरिक न्यायिक संयम (Judicial Restraint) से आगे बढ़कर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मुद्दों पर सक्रिय हस्तक्षेप करता है। सार्वजनिक हित याचिका (Public Interest Litigation – PIL) इस सक्रियता का सबसे प्रभावी माध्यम बनी। जस्टिस पी.एन. भगवती एवं जस्टिस वी.आर. कृष्णा अय्यर के नेतृत्व में लोकल स्टैंडी के नियम को शिथिल कर जनसाधारण को न्याय तक पहुँच प्रदान की गई। हुसैनआरा खातून बनाम बिहार राज्य (1979) में विचाराधीन कैदियों के अधिकारों की रक्षा से आरंभ हुई यह परंपरा पर्यावरण संरक्षण (एम.सी. मेहता प्रकरण), महिलाओं के कार्यस्थल पर उत्पीड़न (विशाखा बनाम राजस्थान राज्य, 1997), चुनाव सुधार एवं शासन में पारदर्शिता तक विस्तारित हुई। 2015 तक के आँकड़ों के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में 20 जुलाई 2015 तक 1,598 सार्वजनिक हित याचिकाएँ लंबित थीं, जिनमें सबसे पुरानी याचिका 15 जुलाई 1992 की थी। वर्ष 2014 में अकेले 905 PIL दायर हुई थीं, जो न्यायिक सक्रियता के विस्तार को दर्शाता है।

समकालीन भारतीय राजनीति (2015 तक) में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका अत्यंत प्रासंगिक रही है। 1990 के दशक के पश्चात् गठबंधन सरकारों के युग में कार्यपालिका की कमजोरी के बीच न्यायालय ने शासन में रिक्तियों को भरने का कार्य किया। न्यायिक नियुक्तियों में कॉलेजियम प्रणाली (द्वितीय एवं तृतीय न्यायाधीश प्रकरण, 1993 एवं 1998) के माध्यम से न्यायालय ने अपनी स्वतंत्रता सुनिश्चित की। अक्टूबर 2015 में राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) को असंवैधानिक घोषित कर न्यायालय ने न्यायिक स्वतंत्रता को संविधान की मूल संरचना का भाग घोषित किया। पर्यावरण, मानवाधिकार, भ्रष्टाचार एवं चुनावी सुधार जैसे क्षेत्रों में न्यायालय के निर्देशों ने राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। इस प्रकार 2015 तक

भारतीय सर्वोच्च न्यायालय न केवल न्यायिक अपील का अंतिम न्यायालय था, बल्कि लोकतंत्र की रक्षा, मौलिक अधिकारों के विस्तार एवं शासन की जवाबदेही सुनिश्चित करने वाली एक सक्रिय राजनीतिक संस्था के रूप में स्थापित हो चुका था।

अध्ययन की पृष्ठभूमि एवं ऐतिहासिक विकास

भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका का निर्धारण संविधान निर्माताओं द्वारा अत्यंत सोच-समझकर किया गया था। संविधान सभा की बहसों में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, के.एम. मुंशी तथा अन्य सदस्यों ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि स्वतंत्र भारत में एक शक्तिशाली एवं स्वतंत्र न्यायपालिका लोकतंत्र की रक्षा के लिए अनिवार्य है। संविधान के भाग V, अध्याय IV (अनुच्छेद 124 से 147) में सर्वोच्च न्यायालय की संरचना, अधिकारिता, शक्तियाँ एवं प्रक्रिया का विस्तृत प्रावधान किया गया। अनुच्छेद 124(1) में स्पष्ट रूप से कहा गया कि "भारत का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा", जबकि अनुच्छेद 32 को डॉ. अम्बेडकर ने संविधान की "आत्मा" की संज्ञा दी। अनुच्छेद 13 के अंतर्गत न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) की शक्ति, अनुच्छेद 141 के अंतर्गत न्यायालय द्वारा घोषित विधि की बाध्यकारी प्रकृति तथा अनुच्छेद 142 के अंतर्गत पूर्ण न्याय करने की शक्ति ने सर्वोच्च न्यायालय को विश्व के सबसे शक्तिशाली संवैधानिक न्यायालयों में से एक बना दिया। संविधान लागू होने के समय न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश एवं सात अन्य न्यायाधीश थे। 28 जनवरी 1950 को न्यायालय का औपचारिक उद्घाटन हुआ तथा प्रथम मुख्य न्यायाधीश हरिलाल जे. कानिया ने पदभार ग्रहण किया।

स्वतंत्रता के पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों एवं कार्यक्षेत्र का विकास कई चरणों में हुआ। प्रारंभिक दो दशकों (1950–1970) में न्यायालय ने अपेक्षाकृत संयमित भूमिका निभाई। ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1950) में अनुच्छेद 21 की संकीर्ण व्याख्या की गई तथा "प्रक्रिया द्वारा स्थापित विधि" को ही पर्याप्त माना गया। शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (1951) एवं सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1965) में संसद की संशोधन शक्ति को व्यापक माना गया। परंतु 1960 के दशक के अंत में गोलाकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती। इस निर्णय ने संसद एवं न्यायपालिका के बीच तनाव बढ़ा दिया। 1973 में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के ऐतिहासिक निर्णय में 13 न्यायाधीशों की पीठ ने 7:6 के बहुमत से "मूल संरचना सिद्धांत" (Basic Structure Doctrine) प्रतिपादित किया। इस सिद्धांत ने संसद की संशोधन शक्ति पर अंकुश लगाकर संविधान के लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा सुनिश्चित की। आपातकाल (जून 1975–मार्च 1977) के दौरान ए.डी.एम. जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला (1976) प्रकरण में न्यायालय की बहुमत वाली पीठ ने अनुच्छेद 21 के निलंबन को वैध ठहराया, जिसकी बाद में व्यापक आलोचना हुई। आपातकाल की समाप्ति के पश्चात् न्यायालय ने अपनी छवि पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया।

न्यायिक सक्रियता का उद्भव एवं विकास मुख्यतः आपातकाल के पश्चात् की अवधि में हुआ। 1978 में मेनका गांधी बनाम भारत संघ के निर्णय ने अनुच्छेद 21 की व्यापक व्याख्या कर "उचित, न्यायसंगत एवं युक्तियुक्त प्रक्रिया" का सिद्धांत प्रतिपादित किया। इससे मौलिक अधिकारों का विस्तार आरंभ हुआ। न्यायिक सक्रियता के विकास को तीन प्रमुख चरणों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम चरण (1950–1970) में न्यायिक संयम की प्रधानता रही। द्वितीय चरण (1970–2000) में सक्रियता का उदय एवं विस्तार हुआ। इस अवधि में जस्टिस पी.एन. भगवती, जस्टिस वी.आर. कृष्णा अय्यर, जस्टिस चिन्नप्पा रेड्डी एवं जस्टिस डी.ए. देसाई जैसे न्यायाधीशों ने सक्रिय भूमिका निभाई। तृतीय चरण (2000–2015) में सक्रियता का विस्तार पर्यावरण, शासन में पारदर्शिता, चुनाव सुधार एवं मानवाधिकारों तक हुआ। इस अवधि में न्यायालय ने कॉलेजियम प्रणाली (द्वितीय न्यायाधीश प्रकरण 1993 एवं तृतीय न्यायाधीश प्रकरण 1998) के माध्यम से न्यायिक नियुक्तियों में अपनी

प्रधानता स्थापित की। अक्टूबर 2015 में राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) को असंवैधानिक घोषित कर न्यायालय ने न्यायिक स्वतंत्रता को संविधान की मूल संरचना का भाग घोषित किया।

जनहित याचिका (Public Interest Litigation – PIL) न्यायिक सक्रियता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुई। पारंपरिक लोकल स्टैंडी के नियम को शिथिल कर न्यायालय ने गरीब, वंचित एवं असहाय वर्गों को न्याय तक पहुँच प्रदान की। हुसैनआरा खातून बनाम बिहार राज्य (1979) में विचाराधीन कैदियों के अधिकारों की रक्षा से आरंभ हुई यह प्रक्रिया एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ (1981) में औपचारिक रूप से स्थापित हुई। पीआईएल के माध्यम से न्यायालय ने पर्यावरण संरक्षण (एम.सी. मेहता प्रकरण श्रृंखला), बंधुआ मजदूरी, बाल श्रम, महिलाओं के कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न (विशाखा बनाम राजस्थान राज्य, 1997) तथा चुनाव सुधार जैसे क्षेत्रों में महत्वपूर्ण निर्देश जारी किए। दिसम्बर 2015 तक के उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार 20 जुलाई 2015 को सर्वोच्च न्यायालय में 1,598 सार्वजनिक हित याचिकाएँ लंबित थीं, जिनमें से 553 रिट याचिकाएँ थीं। सबसे पुरानी लंबित याचिका 15 जुलाई 1992 की थी। वर्ष 2014 में अकेले 905 पीआईएल दायर की गई थीं तथा 2015 में जुलाई तक 348 याचिकाएँ दायर हो चुकी थीं। पीआईएल की संख्या में निरंतर वृद्धि ने यह स्पष्ट कर दिया कि न्याय तक पहुँच का विस्तार हुआ है, यद्यपि लंबित मामलों की संख्या भी एक चुनौती बनी हुई थी।

इस प्रकार स्वतंत्रता के पश्चात् साढ़े छह दशकों में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी भूमिका को पारंपरिक अपीलीय न्यायालय से आगे बढ़ाकर संविधान के संरक्षक, मौलिक अधिकारों के विस्तारकर्ता एवं शासन की जवाबदेही सुनिश्चित करने वाली संस्था के रूप में विकसित किया। 2015 तक यह स्पष्ट हो चुका था कि न्यायिक सक्रियता एवं जनहित याचिका ने भारतीय लोकतंत्र को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, यद्यपि शक्तियों के पृथक्करण के संदर्भ में इसकी सीमाओं पर भी विमर्श आवश्यक था। यह अध्ययन उपरोक्त ऐतिहासिक विकासक्रम को आधार बनाकर सर्वोच्च न्यायालय की राजनीतिक भूमिका का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

अध्ययन का महत्त्व एवं आवश्यकता

- संवैधानिक लोकतंत्र की रक्षा में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका का अध्ययन।
- नागरिकों के मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं के संरक्षण का विश्लेषण।
- न्यायपालिका और राजनीतिक संस्थाओं के बीच बदलते संबंधों को समझना।
- न्यायिक सक्रियता की उपलब्धियों, सीमाओं एवं लोकतांत्रिक प्रभावों का परीक्षण।

शोध समस्या

भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय संविधान की सर्वोच्चता, मौलिक अधिकारों और विधि के शासन की रक्षा करने वाली प्रमुख संस्था है। किंतु न्यायिक सक्रियता के विस्तार के साथ न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका के बीच अधिकार-क्षेत्र, शक्तियों के पृथक्करण तथा लोकतांत्रिक जवाबदेही से संबंधित प्रश्न भी उभरे हैं। प्रस्तुत शोध में इन अंतर्विरोधों का राजनीतिक एवं संवैधानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाएगा।

अध्ययन के उद्देश्य

1. भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक एवं राजनीतिक भूमिका का विश्लेषण करना।
2. न्यायिक सक्रियता की अवधारणा, विकास और प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना।

3. मौलिक अधिकारों, जनहित याचिकाओं तथा न्यायिक पुनरावलोकन के संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय के योगदान का परीक्षण करना।
4. न्यायपालिका, विधायिका एवं कार्यपालिका के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण करना।
5. न्यायिक सक्रियता की सीमाओं, आलोचनाओं एवं लोकतांत्रिक प्रभावों का मूल्यांकन करना।

शोध प्रश्न

- भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका किस प्रकार विकसित हुई है?
- न्यायिक सक्रियता ने नागरिक अधिकारों एवं संवैधानिक शासन को किस सीमा तक प्रभावित किया है?
- न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अतिक्रमण के बीच अंतर निर्धारित करने के प्रमुख आधार क्या हैं?
- सर्वोच्च न्यायालय के हस्तक्षेप का विधायिका, कार्यपालिका एवं लोकतांत्रिक जवाबदेही पर क्या प्रभाव पड़ता है?

परिकल्पना

भारतीय लोकतंत्र में न्यायिक सक्रियता ने मौलिक अधिकारों के संरक्षण, संवैधानिक मूल्यों की स्थापना और शासन की जवाबदेही को सुदृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है; तथापि, इसके प्रभावी एवं लोकतांत्रिक संचालन के लिए शक्तियों के पृथक्करण और संस्थागत मर्यादाओं का सम्मान आवश्यक है।

साहित्य समीक्षा (Review of Literature)

भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एवं न्यायिक सक्रियता पर उपलब्ध साहित्य का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि न्यायपालिका का कार्य केवल कानूनों की व्याख्या तक सीमित नहीं है, बल्कि वह संवैधानिक मूल्यों, नागरिक स्वतंत्रताओं और लोकतांत्रिक संस्थाओं के बीच संतुलन स्थापित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस विषय पर विभिन्न विद्वानों ने न्यायिक सक्रियता की प्रकृति, उसके विकास तथा राजनीतिक व्यवस्था पर उसके प्रभावों का अध्ययन किया है।

ग्रेनविल ऑस्टिन (Granville Austin) ने अपनी पुस्तक The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation में भारतीय संविधान के निर्माण, संवैधानिक मूल्यों और लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास का विश्लेषण किया है। उनका अध्ययन यह समझने में सहायक है कि भारतीय संविधान सामाजिक परिवर्तन, लोकतांत्रिक शासन और नागरिक अधिकारों के संरक्षण के लिए किस प्रकार आधार प्रदान करता है।

उपेन्द्र बक्सी (Upendra Baxi) ने भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका और न्यायिक प्रक्रिया के सामाजिक पक्ष का विश्लेषण किया है। उनकी रचनाएँ विशेष रूप से जनहित याचिका, सामाजिक न्याय तथा न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका को समझने में उपयोगी हैं। उनके अध्ययन से यह प्रश्न भी उभरता है कि न्यायिक हस्तक्षेप वास्तविक रूप से वंचित वर्गों को कितना लाभ पहुँचाता है।

एस. पी. साठे (S. P. Sathe) ने अपनी पुस्तक Judicial Activism in India में भारतीय न्यायपालिका के विकास, न्यायिक पुनरावलोकन, जनहित याचिका और न्यायिक सक्रियता की वैधता का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने न्यायिक सक्रियता के लोकतांत्रिक योगदान के साथ न्यायपालिका की जवाबदेही और उसके अधिकार-क्षेत्र से संबंधित प्रश्नों पर भी विचार किया है।

अनुज भुवानिया (Anuj Bhuwania) ने Courting the People: Public Interest Litigation in Post-Emergency India में जनहित याचिका के विकास तथा भारतीय न्यायिक व्यवस्था में उसके प्रभावों का अध्ययन किया है। उनका कार्य इस बात को

समझने में सहायता करता है कि जनहित याचिका ने न्याय तक पहुँच के नए अवसर उत्पन्न करने के साथ-साथ न्यायिक प्रक्रिया की प्रकृति को भी प्रभावित किया है।

उपरोक्त साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि न्यायिक सक्रियता पर उपलब्ध अध्ययन इसके संवैधानिक, विधिक और सामाजिक पक्षों को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। तथापि, प्रस्तुत शोध में इन पक्षों को राजनीतिक दृष्टिकोण से एकीकृत करते हुए न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका के संबंधों, राजनीतिक सत्ता पर संवैधानिक नियंत्रण, लोकतांत्रिक जवाबदेही तथा न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अतिक्रमण के बीच अंतर का विश्लेषण किया जाएगा। यही इस अध्ययन का प्रमुख विश्लेषणात्मक केंद्र होगा।

शोध अंतराल (Research Gap)

उपलब्ध साहित्य में सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक भूमिका, न्यायिक सक्रियता तथा जनहित याचिका का व्यापक अध्ययन किया गया है। तथापि, न्यायिक सक्रियता के राजनीतिक प्रभावों, विधायिका एवं कार्यपालिका के साथ न्यायपालिका के बदलते संबंधों तथा लोकतांत्रिक जवाबदेही और न्यायिक अतिक्रमण के बीच संतुलन का समेकित विश्लेषण अपेक्षाकृत आवश्यक है। प्रस्तुत शोध इसी अंतराल को ध्यान में रखते हुए समकालीन भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एवं न्यायिक सक्रियता का राजनीतिक विश्लेषण प्रस्तुत करेगा।

सैद्धांतिक आधार

भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका एवं न्यायिक सक्रियता का विश्लेषण करने हेतु कई सैद्धांतिक अवधारणाएँ आधार प्रदान करती हैं। इनमें संवैधानिकतावाद, शक्तियों का पृथक्करण, न्यायिक पुनरावलोकन, लोकतांत्रिक जवाबदेही तथा न्यायिक सक्रियता एवं संयम के बीच संतुलन प्रमुख हैं।

संवैधानिकतावाद (Constitutionalism) की अवधारणा इस मूल सिद्धांत पर आधारित है कि शासन की शक्तियाँ संविधान द्वारा सीमित होती हैं तथा संविधान सर्वोच्च होता है। भारतीय संदर्भ में यह सिद्धांत संविधान की उद्देशिका, मौलिक अधिकारों तथा मूल संरचना सिद्धांत में प्रतिबिम्बित होता है। संविधान निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से सीमित शासन की व्यवस्था की ताकि किसी भी अंग को असीमित शक्ति प्राप्त न हो। केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) के निर्णय ने इस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान किया, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि संसद संविधान के मूल ढाँचे में परिवर्तन नहीं कर सकती। यह निर्णय दिसम्बर 2015 तक भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र का आधार स्तंभ बना रहा।

शक्तियों के पृथक्करण (Separation of Powers) का सिद्धांत मोंटेस्क्यू की विचारधारा से प्रभावित है। भारतीय संविधान में यद्यपि कठोर पृथक्करण नहीं अपनाया गया, तथापि विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच कार्यों का स्पष्ट विभाजन किया गया। सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान कर संविधान निर्माताओं ने यह सुनिश्चित किया कि अन्य दो अंग संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण न करें। अनुच्छेद 50 में कार्यपालिका को न्यायपालिका से पृथक रखने का निर्देश दिया गया, जबकि अनुच्छेद 121 एवं 211 में संसद एवं राज्य विधानमंडलों को न्यायाधीशों के आचरण पर चर्चा करने से प्रतिबंधित किया गया। 2015 तक के अनुभव ने यह स्पष्ट किया कि शक्तियों का संतुलन बनाए रखना भारतीय लोकतंत्र की निरंतर चुनौती रहा है।

न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) का सिद्धांत सर्वोच्च न्यायालय की सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है। अनुच्छेद 13 के अंतर्गत कोई भी विधि जो मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती है, शून्य घोषित की जा सकती है। मर्बरी बनाम मैडिसन (1803) के अमेरिकी निर्णय से प्रेरित यह शक्ति भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से निहित है। शंकरी प्रसाद (1951), गोलाकनाथ (1967) एवं केशवानंद भारती (1973) जैसे निर्णयों ने इस सिद्धांत को विकसित किया। दिसम्बर 2015 तक न्यायालय ने अनेक केंद्रीय एवं राज्य कानूनों को असंवैधानिक घोषित कर विधि के शासन (Rule of Law) को सुदृढ़ किया।

लोकतांत्रिक जवाबदेही (Democratic Accountability) की अवधारणा इस बात पर बल देती है कि संवैधानिक संस्थाएँ जनता के प्रति उत्तरदायी हों। न्यायपालिका यद्यपि निर्वाचित नहीं होती, तथापि वह संविधान के प्रति जवाबदेह होती है। न्यायिक सक्रियता के माध्यम से न्यायालय ने कार्यपालिका एवं विधायिका की जवाबदेही सुनिश्चित करने का प्रयास किया। साथ ही, स्वयं न्यायपालिका पर भी जवाबदेही के प्रश्न उठे, विशेषकर कॉलेजियम प्रणाली के संदर्भ में।

न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism) एवं न्यायिक संयम (Judicial Restraint) के बीच संतुलन का विश्लेषण इस अध्ययन का केंद्रीय सैद्धांतिक पक्ष है। सक्रियता वह स्थिति है जिसमें न्यायालय सामाजिक एवं राजनीतिक मुद्दों पर सक्रिय हस्तक्षेप करता है, जबकि संयम में न्यायालय विधायिका एवं कार्यपालिका के क्षेत्र में न्यूनतम हस्तक्षेप करता है। भारत में 1970 के दशक के पश्चात् सक्रियता का विस्तार हुआ, परंतु 2015 तक इसकी सीमाओं पर भी गंभीर विमर्श आरंभ हो चुका था। न्यायिक अतिरेक (Judicial Overreach) की आलोचना के बावजूद, सक्रियता ने मौलिक अधिकारों के विस्तार एवं शासन में पारदर्शिता लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक एवं राजनीतिक भूमिका

सर्वोच्च न्यायालय भारतीय संविधान का संरक्षक एवं अंतिम व्याख्याकार है। अनुच्छेद 141 के अनुसार न्यायालय द्वारा घोषित विधि समस्त न्यायालयों पर बाध्यकारी होती है। संविधान की व्याख्या करने की अंतिम शक्ति न्यायालय में निहित है, जिससे वह संघीय व्यवस्था, मौलिक अधिकारों एवं शासन व्यवस्था के सभी पक्षों को प्रभावित करता है। मौलिक अधिकारों का संरक्षण न्यायालय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अनुच्छेद 32 के अंतर्गत नागरिकों को संवैधानिक उपचार का अधिकार प्राप्त है, जिसे डॉ. अम्बेडकर ने संविधान की आत्मा कहा था। मेनका गांधी (1978) के निर्णय ने अनुच्छेद 21 को व्यापक आयाम प्रदान किया। विशाखा बनाम राजस्थान राज्य (1997) में कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के विरुद्ध दिशानिर्देश जारी कर न्यायालय ने विधायी शून्यता को भरा। दिसम्बर 2015 तक अनुच्छेद 21 के अंतर्गत शिक्षा का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार तथा निजता के अधिकार जैसी अनेक अवधारणाएँ विकसित हो चुकी थीं।

न्यायिक पुनरावलोकन एवं विधि के शासन की स्थापना में न्यायालय की भूमिका निर्णायक रही है। न्यायालय ने न केवल सामान्य कानूनों बल्कि संवैधानिक संशोधनों की भी वैधता की जाँच की। केशवानंद भारती (1973) में प्रतिपादित मूल संरचना सिद्धांत ने संसद की शक्ति पर स्थायी अंकुश लगाया। इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण (1975) में चुनाव संबंधी संशोधन को असंवैधानिक घोषित कर न्यायालय ने लोकतंत्र के मूल्यों की रक्षा की। संघीय व्यवस्था एवं केंद्र-राज्य विवादों में न्यायालय की भूमिका अनुच्छेद 131 के अंतर्गत मूल अधिकारिता से स्पष्ट होती है। एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) के निर्णय ने अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग पर अंकुश

लगाया तथा संघीय संरचना को सुदृढ़ किया। इस निर्णय ने यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रपति शासन लगाने का निर्णय न्यायिक पुनरावलोकन के अधीन है। 2015 तक यह निर्णय केंद्र-राज्य संबंधों का मार्गदर्शक सिद्धांत बना रहा। चुनाव, नागरिक स्वतंत्रता, शासन एवं सार्वजनिक नीति से संबंधित मामलों में न्यायालय का हस्तक्षेप निरंतर बढ़ता गया। चुनाव सुधारों के क्षेत्र में न्यायालय ने प्रत्याशियों द्वारा आपराधिक पृष्ठभूमि की घोषणा अनिवार्य की तथा निर्वाचन आयोग की स्वतंत्रता को सुदृढ़ किया। नागरिक स्वतंत्रताओं के संरक्षण में हुसैनआरा खातून (1979) से लेकर विभिन्न बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिकाओं तक न्यायालय सक्रिय रहा। शासन में पारदर्शिता के लिए सूचना का अधिकार एवं लोकपाल जैसे मुद्दों पर भी न्यायालय ने दिशा-निर्देश जारी किए।

संविधान के मूल ढाँचे के सिद्धांत के माध्यम से संवैधानिक सीमाओं का संरक्षण न्यायालय की सबसे दूरगामी भूमिका रही है। 1973 से 2015 तक के चार दशकों में न्यायालय ने लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, संघवाद, न्यायिक स्वतंत्रता एवं मौलिक अधिकारों को मूल संरचना का भाग घोषित किया। अक्टूबर 2015 में राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) को असंवैधानिक घोषित कर न्यायालय ने न्यायिक स्वतंत्रता को मूल संरचना का अभिन्न अंग बताया। यह निर्णय दिसम्बर 2015 तक न्यायिक-कार्यपालिका संबंधों का सबसे महत्वपूर्ण घटनाक्रम था।

इस प्रकार सैद्धांतिक आधार एवं व्यावहारिक भूमिका के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि 2015 तक सर्वोच्च न्यायालय न केवल संवैधानिक संस्था था, बल्कि भारतीय राजनीति का एक सक्रिय एवं प्रभावशाली घटक बन चुका था। उसकी भूमिका ने लोकतंत्र को सुदृढ़ किया, परंतु शक्तियों के संतुलन एवं जवाबदेही के प्रश्न भी उत्पन्न किए, जिनका विश्लेषण इस शोध-पत्र में आगे किया गया है।

भारत में न्यायिक सक्रियता का विकास एवं प्रमुख निर्णय

भारत में न्यायिक सक्रियता का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया रही है, जो संविधान लागू होने के पश्चात् विभिन्न ऐतिहासिक चरणों से गुजरती हुई 2015 तक एक सुदृढ़ संवैधानिक परंपरा के रूप में स्थापित हो चुकी थी। प्रारंभिक दो दशकों में न्यायालय ने अपेक्षाकृत संयमित भूमिका निभाई, परंतु 1970 के दशक से सक्रियता का स्पष्ट उदय हुआ। जनहित याचिका (Public Interest Litigation) इस सक्रियता का सबसे प्रभावी माध्यम बनी। पारंपरिक लोकल स्टैंडी के कठोर नियम को शिथिल कर न्यायालय ने वंचित, गरीब एवं असहाय वर्गों को न्याय तक पहुँच प्रदान की। **हुसैनआरा खातून** बनाम बिहार राज्य (1979) में विचाराधीन कैदियों के अधिकारों की रक्षा से आरंभ हुई यह प्रक्रिया एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ (1981) में औपचारिक रूप से प्रतिष्ठित हुई। जस्टिस पी.एन. भगवती एवं जस्टिस वी.आर. कृष्णा अय्यर के योगदान से जनहित याचिका ने न्याय तक पहुँच का व्यापक विस्तार किया। दिसम्बर 2015 तक के उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार 20 जुलाई 2015 को सर्वोच्च न्यायालय में 1,598 जनहित याचिकाएँ लंबित थीं, जिनमें सबसे पुरानी याचिका 15 जुलाई 1992 की थी। वर्ष 2014 में अकेले 905 जनहित याचिकाएँ दायर हुई थीं, जो इस प्रक्रिया के विस्तार को स्पष्ट रूप से दर्शाती हैं।

केशवानंद भारती बनाम **केरल राज्य** (1973) न्यायिक सक्रियता का सबसे महत्वपूर्ण मील का पत्थर सिद्ध हुआ। 13 न्यायाधीशों की पीठ ने 7:6 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि संसद संविधान के मूल ढाँचे (Basic Structure) में परिवर्तन नहीं कर सकती। इस निर्णय ने लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, संघवाद, न्यायिक स्वतंत्रता एवं मौलिक अधिकारों को संविधान की अनुल्लंघनीय संरचना घोषित किया। यह सिद्धांत दिसम्बर 2015 तक भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र का आधार बना रहा तथा संसद की संशोधन शक्ति पर स्थायी अंकुश लगाए रखा।

मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं अनुच्छेद 21 की व्याख्या में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि अनुच्छेद 21 के अंतर्गत प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार केवल "प्रक्रिया द्वारा स्थापित विधि" तक सीमित नहीं है, बल्कि वह प्रक्रिया उचित, न्यायसंगत एवं युक्तियुक्त होनी चाहिए। इस निर्णय ने अनुच्छेद 14, 19 एवं 21 के बीच अंतर्संबंध स्थापित कर मौलिक अधिकारों के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। इसके पश्चात् अनुच्छेद 21 के अंतर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छ पर्यावरण एवं मानवीय गरिमा जैसे अनेक अधिकार विकसित हुए।

एस.आर. बोम्मई बनाम **भारत संघ** (1994) ने संघवाद एवं राष्ट्रपति शासन की न्यायिक समीक्षा को सुदृढ़ किया। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 356 के अंतर्गत राष्ट्रपति शासन लगाने का निर्णय न्यायिक पुनरावलोकन के अधीन है तथा राज्य सरकार को बर्खास्त करने से पूर्व वैकल्पिक सरकार बनाने की संभावनाओं का परीक्षण आवश्यक है। इस निर्णय ने केंद्र-राज्य संबंधों में संतुलन स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा संघीय संरचना की रक्षा की।

विशाखा बनाम **राजस्थान राज्य** (1997) कार्यस्थल पर महिलाओं की सुरक्षा के क्षेत्र में न्यायिक सक्रियता का उत्कृष्ट उदाहरण रहा। विधायी शून्यता की स्थिति में न्यायालय ने यौन उत्पीड़न की रोकथाम हेतु विस्तृत दिशा-निर्देश जारी किए। इन दिशा-निर्देशों को तब तक बाध्यकारी बनाया गया जब तक संसद उपयुक्त कानून का निर्माण न कर दे। यह निर्णय कार्यस्थल पर महिलाओं के अधिकारों का प्रमुख आधार बना रहा तथा लिंग समानता के क्षेत्र में न्यायालय की सक्रिय भूमिका को रेखांकित करता है।

इन प्रमुख निर्णयों के अतिरिक्त पर्यावरण संरक्षण (एम.सी. मेहता प्रकरण श्रृंखला), बंधुआ मजदूरी, बाल श्रम एवं चुनाव सुधार जैसे क्षेत्रों में भी न्यायालय ने सक्रिय हस्तक्षेप किया। 2015 तक न्यायिक सक्रियता भारतीय संवैधानिक व्यवस्था का अभिन्न अंग बन चुकी थी।

न्यायिक सक्रियता का राजनीतिक विश्लेषण

न्यायिक सक्रियता का राजनीतिक विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि 2015 तक सर्वोच्च न्यायालय न केवल न्यायिक संस्था रह गया था, बल्कि भारतीय राजनीति का एक सक्रिय एवं प्रभावशाली घटक बन चुका था। न्यायपालिका एवं कार्यपालिका के बीच संबंधों का स्वरूप निरंतर परिवर्तित होता रहा। प्रारंभिक वर्षों में न्यायालय ने कार्यपालिका के प्रति संयम अपनाया, परंतु आपातकाल के पश्चात् सक्रियता बढ़ी। 1990 के दशक में गठबंधन सरकारों की अस्थिरता के बीच न्यायालय ने शासन में उत्पन्न रिक्तियों को भरने का प्रयास किया। कॉलेजियम प्रणाली (1993 एवं 1998) के माध्यम से न्यायालय ने न्यायिक नियुक्तियों में अपनी प्रधानता स्थापित की, जिससे कार्यपालिका का प्रभाव सीमित हुआ। अक्टूबर 2015 में राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को असंवैधानिक घोषित कर न्यायालय ने न्यायिक स्वतंत्रता को संविधान की मूल संरचना का भाग बताया, जो न्यायपालिका-कार्यपालिका संबंधों का निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ।

विधायिका की नीतियों एवं निर्णयों की न्यायिक समीक्षा ने राजनीतिक सत्ता पर संवैधानिक नियंत्रण स्थापित किया। **केशवानंद भारती** (1973) एवं इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण (1975) जैसे निर्णयों ने संसद की शक्ति पर अंकुश लगाया। न्यायालय ने अनेक कानूनों को असंवैधानिक घोषित कर विधि के शासन को सुदृढ़ किया। यह प्रक्रिया संस्थागत संतुलन बनाए रखने में सहायक सिद्ध हुई, यद्यपि कुछ मामलों में न्यायिक अतिरेक की आलोचना भी हुई। लोकतांत्रिक शासन में नागरिक अधिकारों एवं सार्वजनिक हित के संरक्षण में न्यायिक सक्रियता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जनहित याचिका के माध्यम से न्यायालय ने उन वर्गों को न्याय उपलब्ध कराया जो पारंपरिक न्यायिक प्रक्रिया तक पहुँचने में असमर्थ थे। पर्यावरण, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं महिलाओं के अधिकारों जैसे क्षेत्रों में न्यायालय के हस्तक्षेप ने सार्वजनिक नीति को प्रभावित किया। इससे

जनविश्वास में वृद्धि हुई, परंतु साथ ही यह प्रश्न भी उठा कि क्या न्यायालय विधायिका एवं कार्यपालिका के कार्यों का स्थान ले रहा है।

न्यायिक सक्रियता, राजनीतिक जवाबदेही एवं जनविश्वास के बीच संबंध जटिल रहा। एक ओर सक्रियता ने शासन में पारदर्शिता एवं जवाबदेही सुनिश्चित की, दूसरी ओर स्वयं न्यायपालिका पर जवाबदेही के प्रश्न उठे। कॉलेजियम प्रणाली की अपारदर्शिता पर 2015 तक गंभीर विमर्श आरंभ हो चुका था। सार्वजनिक नीति से जुड़े प्रश्नों का समाधान करते हुए न्यायालय ने कई बार विधायी शून्यता को भरा, जैसा विशाखा दिशा-निर्देशों में स्पष्ट हुआ।

इस प्रकार न्यायिक सक्रियता ने भारतीय लोकतंत्र को सुदृढ़ करने में योगदान दिया, नागरिक अधिकारों का विस्तार किया तथा संस्थागत संतुलन बनाए रखने का प्रयास किया।

न्यायिक सक्रियता की सीमाएँ एवं आलोचनाएँ

न्यायिक सक्रियता ने भारतीय लोकतंत्र को सुदृढ़ करने एवं नागरिक अधिकारों का विस्तार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया, तथापि दिसम्बर 2015 तक इसकी सीमाओं एवं आलोचनाओं पर भी गंभीर विमर्श आरंभ हो चुका था। सक्रियता एवं अतिक्रमण के बीच की विभाजक रेखा प्रायः धुंधली रही है, जिससे संवैधानिक संस्थाओं के बीच तनाव उत्पन्न हुआ। न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अतिक्रमण (Judicial Overreach) के बीच अंतर करना आवश्यक है। सक्रियता वह स्थिति है जिसमें न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा, विधायी शून्यता की पूर्ति अथवा शासन की जवाबदेही सुनिश्चित करने हेतु हस्तक्षेप करता है। इसके विपरीत, अतिक्रमण तब उत्पन्न होता है जब न्यायालय विधायिका एवं कार्यपालिका के नीतिगत क्षेत्र में अनावश्यक रूप से प्रवेश कर उनके अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करता है। 2015 तक के कई निर्णयों में यह प्रश्न बार-बार उठाया गया कि क्या न्यायालय केवल संविधान की व्याख्या कर रहा है अथवा नीति निर्माण का कार्य भी कर रहा है। विशाखा दिशा-निर्देश (1997) जैसे मामलों में विधायी शून्यता को भरना सक्रियता माना गया, परंतु कुछ अन्य मामलों में न्यायालय द्वारा विस्तृत प्रशासनिक निर्देश जारी करने को अतिक्रमण की श्रेणी में रखा गया।

शक्तियों के पृथक्करण तथा संस्थागत अधिकार-क्षेत्र से संबंधित प्रश्न न्यायिक सक्रियता की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना रहे हैं। भारतीय संविधान में यद्यपि कठोर पृथक्करण नहीं अपनाया गया, तथापि तीनों अंगों के कार्यक्षेत्र का स्पष्ट विभाजन किया गया है। न्यायालय द्वारा सार्वजनिक नीति, पर्यावरण मानकों, शिक्षा नीति एवं प्रशासनिक प्रक्रियाओं पर विस्तृत निर्देश जारी करने से यह आशंका व्यक्त की गई कि न्यायपालिका विधायिका एवं कार्यपालिका के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। 2015 तक कई विधिवेत्ताओं एवं राजनीतिक चिंतकों ने इस बात पर बल दिया कि लोकतंत्र में अंतिम नीतिगत निर्णय निर्वाचित प्रतिनिधियों के पास ही रहना चाहिए। निर्वाचित संस्थाओं के नीतिगत निर्णयों में न्यायिक हस्तक्षेप की सीमा का प्रश्न भी महत्वपूर्ण रहा। न्यायालय ने अनेक मामलों में सरकार की आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों की समीक्षा की। यद्यपि मौलिक अधिकारों की रक्षा हेतु हस्तक्षेप आवश्यक माना गया, तथापि कुछ निर्णयों में नीति के गुण-दोष का मूल्यांकन करने को अनुचित बताया गया। एस.आर. बोम्मई (1994) जैसे निर्णयों ने संघीय संरचना की रक्षा की, परंतु प्रशासनिक मामलों में निरंतर निगरानी (continuing mandamus) की प्रवृत्ति पर भी प्रश्नचिह्न लगे। 2015 तक यह स्पष्ट हो चुका था कि न्यायालय को नीति के क्रियान्वयन की निगरानी एवं नीति निर्माण के बीच संतुलन बनाए रखना आवश्यक है।

न्यायिक नियुक्तियों, पारदर्शिता एवं जवाबदेही से संबंधित विमर्श 2015 में विशेष रूप से तीव्र हो गया। कॉलेजियम प्रणाली (1993 एवं 1998 के निर्णयों द्वारा स्थापित) ने न्यायिक स्वतंत्रता सुनिश्चित की, परंतु इसकी अपारदर्शिता की व्यापक आलोचना हुई। नियुक्तियों की प्रक्रिया में मानदंडों की स्पष्टता एवं जवाबदेही के अभाव को लेकर 2015 तक गंभीर चिंताएँ

व्यक्त की जा रही थीं। अक्टूबर 2015 में राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) को असंवैधानिक घोषित करने के निर्णय ने एक ओर न्यायिक स्वतंत्रता की रक्षा की, दूसरी ओर नियुक्ति प्रक्रिया में पारदर्शिता एवं जवाबदेही के प्रश्न को और अधिक प्रासंगिक बना दिया। न्यायपालिका स्वयं जवाबदेही के तंत्र से मुक्त कैसे रह सकती है, यह प्रश्न 2015 तक अनुत्तरित बना रहा।

न्यायिक विलंब, लंबित मामलों तथा न्याय तक असमान पहुँच की समस्या न्यायिक सक्रियता की व्यावहारिक सीमाओं को उजागर करती है। दिसम्बर 2015 तक सर्वोच्च न्यायालय में हजारों मामले लंबित थे। 20 जुलाई 2015 को अकेले 1,598 जनहित याचिकाएँ लंबित थीं, जिनमें सबसे पुरानी याचिका 23 वर्षों से अधिक समय से लंबित थी। जनहित याचिका ने सैद्धांतिक रूप से न्याय तक पहुँच का विस्तार किया, परंतु व्यावहारिक स्तर पर लंबित मामलों की विशाल संख्या एवं प्रक्रियागत विलंब ने इस विस्तार को सीमित कर दिया। ग्रामीण क्षेत्रों, गरीब एवं वंचित वर्गों के लिए उच्चतम न्यायालय तक वास्तविक पहुँच अभी भी कठिन बनी हुई थी। न्यायिक सक्रियता ने अधिकारों का विस्तार तो किया, परंतु न्याय वितरण की गति एवं समानता की समस्या का समाधान नहीं कर सकी।

इस प्रकार 2015 तक न्यायिक सक्रियता की उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी सीमाएँ भी स्पष्ट हो चुकी थीं। सक्रियता एवं अतिक्रमण के बीच संतुलन, शक्तियों के पृथक्करण का सम्मान, निर्वाचित संस्थाओं के प्रति संयम, नियुक्ति प्रक्रिया में पारदर्शिता तथा लंबित मामलों की समस्या का समाधान—ये सभी प्रश्न भारतीय लोकतंत्र के लिए चुनौती बने हुए थे। इस शोध-पत्र में इन सीमाओं एवं आलोचनाओं का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि न्यायिक सक्रियता की निरंतरता एवं वैधता के लिए संस्थागत सुधार आवश्यक हैं।

शोध पद्धति

- शोध का स्वरूप: वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं गुणात्मक।
- अध्ययन की प्रकृति: संवैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन।
- प्राथमिक स्रोत: भारतीय संविधान, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय, विधिक दस्तावेज एवं आधिकारिक रिपोर्टें।
- द्वितीयक स्रोत: राजनीति विज्ञान एवं विधि की पुस्तकें, शोध पत्र, अकादमिक जर्नल तथा प्रामाणिक संस्थागत अध्ययन।
- विश्लेषण की विधि: संवैधानिक प्रावधानों, चयनित न्यायिक निर्णयों तथा उनके राजनीतिक प्रभावों का विषयवस्तु विश्लेषण।

निष्कर्ष एवं सुझाव

प्रथम, भारतीय लोकतंत्र में सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक भूमिका 1950 से 2015 तक निरंतर विस्तारित एवं सुदृढ़ हुई है। संविधान के संरक्षक, मौलिक अधिकारों के प्रहरी तथा मूल संरचना सिद्धांत के माध्यम से संवैधानिक सीमाओं के रक्षक के रूप में न्यायालय ने अपनी पहचान स्थापित की। केशवानंद भारती (1973) से लेकर अक्टूबर 2015 में राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग को असंवैधानिक घोषित करने तक न्यायालय ने संसद एवं कार्यपालिका की शक्तियों पर संवैधानिक अंकुश बनाए रखा। इस प्रक्रिया ने लोकतांत्रिक शासन को सुदृढ़ किया तथा संविधान की सर्वोच्चता को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

द्वितीय, न्यायिक सक्रियता ने नागरिक अधिकारों एवं संस्थागत जवाबदेही के संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जनहित याचिका के माध्यम से न्याय तक पहुँच का विस्तार हुआ। **मेनका गांधी** (1978) ने अनुच्छेद 21 की व्यापक व्याख्या

कर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नया आयाम दिया, जबकि **विशाखा** (1997) ने कार्यस्थल पर महिलाओं की सुरक्षा हेतु दिशा-निर्देश जारी कर विधायी शून्यता को भरा। **एस.आर. बोम्मई** (1994) ने संघीय संरचना की रक्षा की। 20 जुलाई 2015 तक 1,598 जनहित याचिकाएँ लंबित होने के बावजूद, इस प्रक्रिया ने वंचित वर्गों को न्याय उपलब्ध कराने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई। सक्रियता ने शासन में पारदर्शिता एवं जवाबदेही को भी बढ़ावा दिया।

तृतीय, न्यायिक सक्रियता की सीमाएँ एवं न्यायिक संयम की आवश्यकता स्पष्ट रूप से उजागर हुई। सक्रियता एवं अतिक्रमण के बीच की रेखा कई मामलों में धुंधली रही। शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत के अंतर्गत न्यायालय द्वारा नीतिगत मामलों में विस्तृत हस्तक्षेप की आलोचना हुई। कॉलेजियम प्रणाली की अपारदर्शिता तथा नियुक्ति प्रक्रिया में जवाबदेही के अभाव पर 2015 तक गंभीर विमर्श चल रहा था। न्यायिक विलंब एवं लंबित मामलों की समस्या ने सक्रियता की व्यावहारिक सीमाओं को रेखांकित किया। सबसे पुरानी लंबित जनहित याचिका 23 वर्षों से अधिक समय से लंबित होना इस समस्या की गंभीरता को दर्शाता है।

चतुर्थ, सर्वोच्च न्यायालय के हस्तक्षेप ने विधायिका एवं कार्यपालिका के संबंधों को प्रभावित किया। एक ओर इसने राजनीतिक सत्ता पर संवैधानिक नियंत्रण स्थापित किया, दूसरी ओर संस्थागत तनाव भी उत्पन्न किया। 2015 तक यह स्पष्ट हो चुका था कि न्यायिक सक्रियता लोकतंत्र के लिए आवश्यक है, परंतु उसकी निरंतरता एवं वैधता शक्तियों के पृथक्करण तथा संस्थागत मर्यादाओं के सम्मान पर निर्भर करती है। यह निष्कर्ष शोध की मूल परिकल्पना की पुष्टि करता है।

सुझाव

उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं:

1. न्यायिक प्रक्रिया में पारदर्शिता बढ़ाने हेतु कॉलेजियम प्रणाली में स्पष्ट मानदंड एवं लिखित प्रक्रिया अपनाई जाए, जिससे नियुक्तियों में जवाबदेही सुनिश्चित हो सके।
2. लंबित मामलों की समस्या के समाधान हेतु न्यायिक विलंब को कम करने के लिए समयबद्ध सुनवाई एवं अतिरिक्त बेंचों की व्यवस्था पर बल दिया जाए। 2015 तक की स्थिति में लंबित जनहित याचिकाओं की संख्या को देखते हुए यह अत्यंत आवश्यक है।
3. न्याय तक समान पहुँच सुनिश्चित करने के लिए ग्रामीण एवं वंचित क्षेत्रों में विधिक सहायता सेवाओं का विस्तार किया जाए, ताकि जनहित याचिका का लाभ केवल शहरी एवं संसाधन-संपन्न वर्गों तक सीमित न रहे।
4. न्यायपालिका एवं अन्य संवैधानिक संस्थाओं के बीच संतुलित संबंध बनाए रखने के लिए न्यायालय को नीति निर्माण एवं नीति क्रियान्वयन की निगरानी के बीच स्पष्ट अंतर बनाए रखना चाहिए। विधायी शून्यता की पूर्ति आवश्यक होने पर भी संयम अपनाया जाए।
5. न्यायिक सक्रियता एवं संयम के बीच संतुलन हेतु संवैधानिक नैतिकता एवं संस्थागत मर्यादाओं का निरंतर सम्मान किया जाए, जिससे लोकतांत्रिक जवाबदेही सुदृढ़ हो सके।

निष्कर्षतः न्यायिक सक्रियता ने भारतीय लोकतंत्र को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, परंतु उसकी सीमाओं का सम्मान एवं संस्थागत सुधार इसकी दीर्घकालिक वैधता के लिए अपरिहार्य हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(क) पुस्तकें

1. ऑस्टिन, जी. (1966). The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation. Oxford University Press.
2. ऑस्टिन, जी. (1999). Working a Democratic Constitution: The Indian Experience. Oxford University Press.
3. बक्सी, यू. (1980). The Indian Supreme Court and Politics. Eastern Book Company.
4. भुवानिया, ए. (2016). Courting the People: Public Interest Litigation in Post-Emergency India. Cambridge University Press.
5. जैन, एम. पी. (2018). Indian Constitutional Law (8वाँ संस्करण). LexisNexis.
6. साठे, एस. पी. (2002). Judicial Activism in India: Transgressing Borders and Enforcing Limits. Oxford University Press.

(ख) शोध पत्र एवं अकादमिक लेख

7. Baxi, U. (2001). The avatars of Indian judicial activism: Explorations in the geographies of [in]justice. In S. K. Verma & K. Kusum (Eds.), Fifty years of the Supreme Court of India: Its grasp and reach. Oxford University Press.
8. Bhagwati, P. N. (1985). Judicial activism and public interest litigation. Columbia Journal of Transnational Law, 23, 561–577.
9. Sathe, S. P. (2001). Judicial activism: The Indian experience. Washington University Journal of Law & Policy, 6, 29–108.

(ग) संवैधानिक एवं प्राथमिक स्रोत

10. भारत सरकार. (1950). भारत का संविधान। विधायी विभाग, विधि एवं न्याय मंत्रालय।

(घ) प्रमुख न्यायिक निर्णय

11. Kesavananda Bharati v. State of Kerala, (1973) 4 SCC 225.
12. Maneka Gandhi v. Union of India, (1978) 1 SCC 248.
13. S. R. Bommai v. Union of India, (1994) 3 SCC 1.
14. Vishaka v. State of Rajasthan, (1997) 6 SCC 241.
15. Justice K. S. Puttaswamy (Retd.) v. Union of India, (2017) 10 SCC 1.
16. Anuradha Bhasin v. Union of India, (2020) 3 SCC 637.

ISARA INSTITUTE OF MANAGEMENT & PROFESSIONAL STUDIES

WWW.IIMPS.IN

EARN YOUR

MBA



Accreditation & Ranking

UGC / NCTE Approved.

INFO@IIMPS.IN

011-41005174

RESEARCH GATEWAY

STOP PLAGIARISM

1 Submit your content in Word File.

2 Get report in 48 hrs.

3 *Missing content or references will be fixed.

4 Citation for your work.

5 Get accurate user friendly report.

researchgateway.in | info@researchgateway.in

+91-9205579779

AROGYAM ONLINE

Arogyam Ayurveda

Holistic Healing through herbs

100% NATURAL

PARIVARTAN PSYCHOLOGY CENTER

COLOR PSYCHOLOGY : HOW COLOR AFFECT YOUR CHILD

BLUE — Calms your Child's Mind & Body

YELLOW — Promotes Concentration, Stimulates the Memory

PINK — Evokes Empathy, makes your Child Calm

RED — Excites and energizes your Child's body

GREEN — Improves Reading speed and Comprehension

www.parivartan4u.com

Confuse about your children's future?

भारतीय भाषा, शिक्षा, साहित्य एवं शोध

ISSN 2321 – 9726

WWW.BHARTIYASHODH.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SCIENCE & TECHNOLOGY

ISSN – 2250 – 1959 (0) 2348 – 9367 (P)

WWW.IRJMST.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF COMMERCE, ARTS AND SCIENCE

ISSN 2319 – 9202

WWW.CASIRJ.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT SOCIOLOGY & HUMANITIES

ISSN 2277 – 9809 (0) 2348 - 9359 (P)

WWW.IRJMSH.COM

INTERNATIONAL RESEARCH JOURNAL OF SCIENCE ENGINEERING AND TECHNOLOGY

ISSN 2454-3195 (online)

WWW.RJSET.COM

INTEGRATED RESEARCH JOURNAL OF MANAGEMENT, SCIENCE AND INNOVATION

ISSN 2582-5445

WWW.IRJMSI.COM

JOURNAL OF LEGAL STUDIES,POLITICS AND ECONOMICS RESEARCH

WWW.JLPER.COM